

श्रीमद् भगवद्गीता – तीसरा अध्याय

अनुक्रम

तीसरे अध्याय का माहात्म्य.....	1
तीसरा अध्याय: कर्मयोग	4

तीसरे अध्याय का माहात्म्य

श्री भगवान कहते हैं- प्रिये ! जनस्थान में एक जड़ नामक ब्राह्मण था, जो कौशिक वंश में उत्पन्न हुआ था। उसने अपना जातीय धर्म छोड़कर बनिये की वृत्ति में मन लगाया। उसे परायी स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने का व्यसन पड़ गया था। वह सदा जुआ खेलता, शराब पीता और शिकार खेलकर जीवों की हिंसा किया करता था। इसी प्रकार उसका समय बीतता था। धन नष्ट हो जाने पर वह व्यापार के लिए बहुत दूर उत्तर दिशा में चला गया। वहाँ से धन कमाकर घर की ओर लौटा। बहुत दूर तक का रास्ता उसने तय कर लिया था। एक दिन सूर्यास्त हो जाने पर जब दसों दिशाओं में अन्धकार फैल गया, तब एक वृक्ष के नीचे उसे लुटेरों ने धर दबाया और शीघ्र ही उसके प्राण ले लिए। उसके धर्म का लोप हो गया था, इसलिए वह बड़ा भयानक प्रेत हुआ।

उसका पुत्र बड़ा ही धर्मात्मा और वेदों का विद्वान था। उसने अब तक पिता के लौट आने की राह देखी। जब वे नहीं आये, तब उनका पता लगाने के लिए वह स्वयं भी घर छोड़कर चल दिया। वह प्रतिदिन खोज करता, मगर राहगीरों से पूछने पर भी उसे उनका कुछ समाचार नहीं मिलता था। तदनन्तर एक दिन एक मनुष्य से उसकी भेंट हुई, जो उसके पिता का सहायक था, उससे सारा हाल जानकर उसने पिता की मृत्यु पर बहुत शोक किया। वह बड़ा बुद्धिमान था। बहुत कुछ सोच-विचार कर पिता का पारलौकिक कर्म करने की इच्छा से आवश्यक सामग्री साथ ले उसने काशी जाने का विचार किया। मार्ग में सात-आठ मुकाम डाल कर वह नौवें दिन उसी वृक्ष के नीचे आ पहुँचा जहाँ उसके पिता मारे गये थे। उस स्थान पर उसने संध्योपासना की और गीता के तीसरे अध्याय का पाठ किया। इसी समय आकाश में बड़ी भयानक आवाज हुई। उसने पिता को भयंकर आकार में देखा फिर तुरन्त ही अपने सामने आकाश में उसे एक सुन्दर विमान दिखाई दिया, जो तेज से व्याप्त था। उसमें अनेकों क्षुद्र घंटिकाएँ लगी थीं। उसके तेज से समस्त दिशाएँ आलोकित हो रही थीं। यह दृश्य देखकर उसके चित्त की व्यग्रता दूर हो गयी।

उसने विमान पर अपने पिता को दिव्य रूप धारण किये विराजमान देखा। उनके शरीर पर पीताम्बर शोभा पा रहा था और मुनिजन उनकी स्तुति कर रहे थे। उन्हें देखते ही पुत्र ने प्रणाम किया, तब पिता ने भी उसे आशीर्वाद दिया।

तत्पश्चात् उसने पिता से यह सारा वृत्तान्त पूछा। उसके उत्तर में पिता ने सब बातें बताकर इस प्रकार कहना आरम्भ किया: 'बेटा ! दैववश मेरे निकट गीता के तृतीय अध्याय का पाठ करके तुमने इस शरीर के द्वारा किए हुए दुस्त्यज कर्मबन्धन से मुझे छुड़ा दिया। अतः अब घर लौट जाओ क्योंकि जिसके लिए तुम काशी जा रहे थे, वह प्रयोजन इस समय तृतीय अध्याय के पाठ से ही सिद्ध हो गया है।' पिता के यों कहने पर पुत्र ने पूछा: 'तात ! मेरे हित का उपदेश दीजिए तथा और कोई कार्य जो मेरे लिए करने योग्य हो बतलाइये।' तब पिता ने कहा: 'अनघ ! तुम्हें यही कार्य फिर करना है। मैंने जो कर्म किये हैं, वही मेरे भाई ने भी किये थे। इससे वे घोर नरक में पड़े हैं। उनका भी तुम्हें उद्धार करना चाहिए तथा मेरे कुल के और भी जितने लोग नरक में पड़े हैं, उन सबका भी तुम्हारे द्वारा उद्धार हो जाना चाहिए। यही मेरा मनोरथ है। बेटा ! जिस साधन के द्वारा तुमने मुझे संकट से छुड़ाया है, उसी का अनुष्ठान औरों के लिए भी करना उचित है। उसका अनुष्ठान करके उससे होने वाला पुण्य उन नारकी जीवों को संकल्प करके दे दो। इससे वे समस्त पूर्वज मेरी ही तरह यातना से मुक्त हो स्वल्पकाल में ही श्रीविष्णु के परम पद को प्राप्त हो जायेंगे।'

पिता का यह संदेश सुनकर पुत्र ने कहा: 'तात ! यदि ऐसी बात है और आपकी भी ऐसी रुचि है तो मैं समस्त नारकी जीवों का नरक से उद्धार कर दूँगा।' यह सुनकर उसके पिता बोले: 'बेटा ! एवमस्तु। तुम्हारा कल्याण हो। मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न हो गया।' इस प्रकार पुत्र को आश्वासन देकर उसके पिता भगवान विष्णु के परम धाम को चले गये। तत्पश्चात् वह भी लौटकर जनस्थान में आया और परम सुन्दर भगवान श्रीकृष्ण के मन्दिर में उनके समक्ष बैठकर पिता के आदेशानुसार गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करने लगा। उसने नारकी जीवों का उद्धार करने की इच्छा से गीतापाठजनित सारा पुण्य संकल्प करके दे दिया।

इसी बीच में भगवान विष्णु के दूत यातना भोगने वाले नरक की जीवों को छुड़ाने के लिए यमराज के पास गये। यमराज ने नाना प्रकार के सत्कारों से उनका पूजन किया और कुशलता पूछी। वे बोले: 'धर्मराज ! हम लोगों के लिए सब ओर आनन्द ही आनन्द है।' इस प्रकार सत्कार करके पितृलोक के सम्राट परम बुद्धिमान यम ने विष्णुदूतों से यमलोक में आने का कारण पूछा।

तब विष्णुदूतों ने कहा: यमराज ! शेषशय्या पर शयन करने वाले भगवान विष्णु ने हम लोगों को आपके पास कुछ संदेश देने के लिए भेजा है। भगवान हम लोगों के

मुख से आपकी कुशल पूछते हैं और यह आज्ञा देते हैं कि 'आप नरक में पड़े हुए समस्त प्राणियों को छोड़ दें।'

अमित तेजस्वी भगवान विष्णु का यह आदेश सुनकर यम ने मस्तक झुकाकर उसे स्वीकार किया और मन ही मन कुछ सोचा। तत्पश्चात् मदोन्मत्त नारकी जीवों को नरक से मुक्त देखकर उनके साथ ही वे भगवान विष्णु के वास स्थान को चले। यमराज श्रेष्ठ विमान के द्वारा जहाँ क्षीरसागर हैं, वहाँ जा पहुँचे। उसके भीतर कोटि-कोटि सूर्यों के समान कान्तिमान नील कमल दल के समान श्यामसुन्दर लोकनाथ जगदगुरु श्री हरि का उन्होंने दर्शन किया। भगवान का तेज उनकी शय्या बने हुए शेषनाग के फणों की मणियों के प्रकाश से दुगुना हो रहा था। वे आनन्दयुक्त दिखाई दे रहे थे। उनका हृदय प्रसन्नता से परिपूर्ण था।

भगवती लक्ष्मी अपनी सरल चितवन से प्रेमपूर्वक उन्हें बार-बार निहार रहीं थीं। चारों ओर योगीजन भगवान की सेवा में खड़े थे। ध्यानस्थ होने के कारण उन योगियों की आँखों के तारे निश्चल प्रतीत होते थे। देवराज इन्द्र अपने विरोधियों को परास्त करने के उद्देश्य से भगवान की स्तुति कर रहे थे। ब्रह्माजी के मुख से निकले हुए वेदान्त-वाक्य मूर्तिमान होकर भगवान के गुणों का गान कर रहे थे। भगवान पूर्णतः संतुष्ट होने के साथ ही समस्त योनियों की ओर से उदासीन प्रतीत होते थे। जीवों में से जिन्होंने योग-साधन के द्वारा अधिक पुण्य संचय किया था, उन सबको एक ही साथ वे कृपादृष्टि से निहार रहे थे। भगवान अपने स्वरूप भूत अखिल चराचर जगत को आनन्दपूर्ण दृष्टि से आमोदित कर रहे थे। शेषनाग की प्रभा से उद्भासित और सर्वत्र व्यापक दिव्य विग्रह धारण किये नील कमल के सदृश श्याम वर्णवाले श्रीहरि ऐसे जान पड़ते थे, मानो चाँदनी से घिरा हुआ आकाश सुशोभित हो रहा हो। इस प्रकार भगवान की झाँकी के दर्शन करके यमराज अपनी विशाल बुद्धि के द्वारा उनकी स्तुति करने लगे।

यमराज बोले: सम्पूर्ण जगत का निर्माण करने वाले परमेश्वर ! आपका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल है। आपके मुख से ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। आप ही विश्वस्वरूप और इसके विधायक ब्रह्मा हैं। आपको नमस्कार है। अपने बल और वेग के कारण जो अत्यन्त दुर्धर्ष प्रतीत होते हैं, ऐसे दानवेन्द्रों का अभिमान चूर्ण करने वाले भगवान विष्णु को नमस्कार है। पालन के समय सत्त्वमय शरीर धारण करने वाले, विश्व के आधारभूत, सर्वव्यापी श्रीहरि को नमस्कार है। समस्त देहधारियों की पातक-राशि को दूर करने वाले परमात्मा को प्रणाम है। जिनके ललाटवर्ती नेत्र के तनिक-सा खुलने पर भी आग की लपटें निकलने लगती हैं, उन रूद्ररूपधारी आप परमेश्वर को नमस्कार है। आप सम्पूर्ण विश्व के गुरु, आत्मा और महेश्वर हैं, अतः समस्त वैश्रवजनों को संकट से मुक्त करके उन पर अनुग्रह करते हैं। आप माया से विस्तार को प्राप्त हुए अखिल विश्व में व्याप्त होकर भी

कभी माया अथवा उससे उत्पन्न होने वाले गुणों से मोहित नहीं होते। माया तथा मायाजनित गुणों के बीच में स्थित होने पर भी आप पर उनमें से किसी का प्रभाव नहीं पड़ता। आपकी महिमा का अन्त नहीं है, क्योंकि आप असीम हैं फिर आप वाणी के विषय कैसे हो सकते हैं? अतः मेरा मौन रहना ही उचित है।

इस प्रकार स्तुति करके यमराज ने हाथ जोड़कर कहा: 'जगदगुरो ! आपके आदेश से इन जीवों को गुणरहित होने पर भी मैंने छोड़ दिया है। अब मेरे योग्य और जो कार्य हो, उसे बताइये।' उनके यों कहने पर भगवान मधुसूदन मेघ के समान गम्भीर वाणी द्वारा मानो अमृतरस से सींचते हुए बोले: 'धर्मराज ! तुम सबके प्रति समान भाव रखते हुए लोकों का पाप से उद्धार कर रहे हो। तुम पर देहधारियों का भार रखकर मैं निश्चिन्त हूँ। अतः तुम अपना काम करो और अपने लोक को लौट जाओ।'

यों कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये। यमराज भी अपनी पुरी को लौट आये। तब वह ब्राह्मण अपनी जाति के और समस्त नारकी जीवों का नरक से उद्धार करके स्वयं भी श्रेष्ठ विमान द्वारा श्री विष्णुधाम को चला गया।

[\(अनुक्रम\)](#)

तीसरा अध्याय: कर्मयोग

दूसरे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने श्लोक 11 से श्लोक 30 तक आत्मतत्त्व समझाकर सांख्ययोग का प्रतिपादन किया। बाद में श्लोक 31 से श्लोक 53 तक समस्त बुद्धिरूप कर्मयोग के द्वारा परमेश्वर को पाये हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुष के लक्षण, आचरण और महत्त्व का प्रतिपादन किया। इसमें कर्मयोग की महिमा बताते हुए भगवान ने 47 तथा 48वें श्लोक में कर्मयोग का स्वरूप बताकर अर्जुन को कर्म करने को कहा। 49वें श्लोक में समत्व बुद्धिरूप कर्मयोग की अपेक्षा सकाम कर्म का स्थान बहुत नीचा बताया। 50वें श्लोक में समत्व बुद्धियुक्त पुरुष की प्रशंसा करके अर्जुन को कर्मयोग में जुड़ जाने के लिए कहा और 51 वे श्लोक में बताया कि समत्व बुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुष को परम पद की प्राप्ति होती है। यह प्रसंग सुनकर अर्जुन ठीक से तय नहीं कर पाया। इसलिए भगवान से उसका और स्पष्टीकरण कराने तथा अपना निश्चित कल्याण जानने की इच्छा से अर्जुन पूछता है:

[\(अनुक्रम\)](#)

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥1॥

अर्जुन बोले: हे जनार्दन ! यदि आपको कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥2॥

आप मिले हुए वचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिए उस एक बात को निश्चित करके कहिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।(2)

श्रीभगवानुवाच
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥3॥

श्री भगवानान बोले: हे निष्पाप ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमें से सांख्ययोगियों की निष्ठा तो ज्ञानयोग से और योगियों की निष्ठा कर्मयोग से होती है।(3)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्रुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥4॥

मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता को यानि योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है।(4)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥5॥

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।

कर्मन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥6॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।(6)

यस्त्विन्द्रियाणी मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥7॥

किन्तु हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।(7)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥8॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।(8)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥9॥

यज्ञ के निमित्त किये जाने कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बँधता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य कर्म कर।(9)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्तिवष्टकामधुक्॥10॥

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो।(10)

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥11॥

तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभाव से एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।(11)

**इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥12॥**

यज्ञ के द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुम लोगों को बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओं के द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।(12)

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥13॥**

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं।(13)

**अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥14॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥15॥**

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है। कर्मसमुदाय को तू वेद से उत्पन्न और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

**एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥16॥**

हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।(16)

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥17॥**

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।(17)

**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥18॥**

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता।(18)

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥19॥**

इसलिए तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म को भली भाँति करता रह क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।(19)

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥20॥**

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसलिए तथा लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करने को ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।(20)

**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्ततदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥21॥**

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसके अनुसार बरतने लग जाता है।(21)

**न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवासमवासव्यं वर्त एव च कर्मणि॥22॥**

हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है न ही कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ।(22)

**यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥23॥**

क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मों में न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाए, क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।(23)

**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥24॥**

इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायें और मैं संकरता का करने वाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ।(24)

**सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥25॥**

हे भारत ! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्ति रहित विद्वान भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।(25)

**न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥26॥**

परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा

उन्पन्न न करे, किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे।(26)

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥27॥**

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है।(27)

**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥28॥**

परन्तु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण-ही-गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।(28)

**प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्न्नविदो मन्दान्कृत्स्न्नविन्न विचालयेत्॥29॥**

प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणों में और कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझने वाले मन्दबुद्धि अज्ञानियों को पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे।(29)

**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥30॥**

मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर।(30)

**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥31॥**

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं।(31)

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञाननिमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥32॥

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खों को तू सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित और नष्ट हुए ही समझ।(32)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥33॥

सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव के परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं। फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा।(33)

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥34॥

इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं।(34)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥35॥

अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है।(35)

अर्जुन उवाच
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः।
अनिच्छन्नपि वाष्प्य बलादिव नियोजितः॥36॥

अर्जुन बोले: हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुए की भाँति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है? (36)

श्रीभगवानुवाच
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥37॥

श्री भगवान बोले: रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी न अघाने वाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषय में वैरी जान | (37)

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥38॥

जिस प्रकार धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है | (38)

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥39॥

और हे अर्जुन ! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाले कामरूप ज्ञानियों के नित्य वैरी के द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढका हुआ है | (39) [\(अनुक्रम\)](#)

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥40॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि - ये सब वास स्थान कहे जाते हैं | यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है | (40)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।

पाप्मान प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥41॥

इसलिए हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल | (41)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥42॥

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर यानि श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म कहते हैं | इन इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है | (42)

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥43॥

इस प्रकार बुद्धि से पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल | (43)

ॐ तत्सदिति श्रीमद् भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मेविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः || 3 ||

